

# श्री ध्रुव चरित्र

ब्रज भाषा काव्य (सटीक)



## आवेदन :-

### द्वितीय संस्करण

“ध्रुव चरित्र अभी अधूरा है, अभी अधूरा है” बार-बार कोई अंतर में कहता। सुनता और चुप हो जाता। चुप हो जाता क्या बल्कि कभी युगपुरुष तुलसी तो कभी नवरंग मानमर्दन-भरतभूमि का भाट-स्वातंत्र्य समर सत्र आदि अनसुना करने को बाध्य कर देते। फिर ‘गृहकारज नाना जंजाला’ व्याख्या क्या करनी? आयु का चौथा चरण आ गया। अभावों के व्यूह में अवसर का लाभ उठाकर रोग के पीछे रोगों के समूह, पूर्व जन्मों के कृत्यों का बल पाकर घुसपैठ करने लगे। इसी अवस्था में राष्ट्रपुरुष महाराजा अग्रसेन आ धमके। ‘आ धमके’ क्या बल्कि घेराव करने वालों को घेरकर धमकाने ही आ पहुँचे। यह कहने का कारण यही है कि भरत विजय-रावण वध-राष्ट्रकवि भूषण-विदेशी रानी-राजर्षि महाराजा अजमीढ़-सत्यश्री अकाल-जफर की आखिरी रात-दूतराज अंगद-पत्रावली आदि अपूर्ण कृतियों की ओर क्रमशः ध्यान देने जा रहा था किंतु वे तो रखी की रखी रह गईं और जो महाराजा अग्रसेन दूर-दूर तक स्मृति में नहीं थे, वे पूर्ण होने से पूर्व ठिठके तक नहीं। तो इसे धमकना और धमकाना नहीं तो और क्या कहा जाएगा?

अस्तु, जिस ध्रुव चरित्र के छंद तनिक अवकाश के क्षण पाते ही गुनगुनाहट का आश्रय लेकर रोम-रोम को बार-बार, अनायास आश्रम बना लेते थे, फिर अपेक्षित सेवा-सुश्रूषा का भाव न पाकर किसी संयासी की भांति किसी अनजानी दिशा में जाकर चातुर्मास करने बैठ जाते तो अंतर में ‘अभी अधूरा है’ कहने वाले भुनभुनाने लगते। मैंने भी झुंझलाकर कह दिया कि “तुमने ही तो नरोत्तमदास जी-डा. दशरथ जी ओझा-डा. नगेन्द्र जी आदि से षडयंत्र रचकर अपनी अहैतुकि कृपावश जो कार्य कराया, वह अभी ‘अधूरा-अधूरा’ क्यों कह रहे हो? ‘अधूरा’ है तो पूरा कराओ। स्वामी निर्देश न दे, सेवक को डाँटे, यह कहां का न्याय है?”

अंतराश्रमी को अंतर से निकली बात चुभ गई। जुट गए संयोग जुटाने में। हुआ यह कि एक सामाजिक समारोह के अवसर पर आतिथेय मान. श्री बिट्ठलदास जी मूँधड़ा से ऐसे ही चर्चा हो रही थी कि तभी महीयसी मनीषा के धनी समादरणीय श्री रामनिवास जी जाजू वहां पधार गए। कुशलमंगल हुआ। चर्चा ध्रुव चरित्र पर आ गई। वर्षों पूर्व जो बात श्रीवृंदावन में डा. जाजू जी ने कही थी, उसे दोहरा बैठे। भाव-भाषा-शैली के विषय में उनकी कही हुई समस्त बातें मैं कहूँ तो उचित नहीं होगा। केवल निष्कर्ष की ही वह बात कहूँगा जो उन्होंने कही। वह यही थी

कि "ब्रजभाषा का लालित्य तो अद्वितीय है। किंतु आज उसे सांगोपांग हृदयंगम करने वाले तो अँगुलियों पर गिनने योग्य रह गए हैं। यदि इस कृति का अनुवाद हो जाए तो उत्तम होगा।" तुरंत ही मान. श्री मूँधड़ा जी ने कहा कि "अनुवाद कीजिए। प्रकाशन हो जाएगा।"

'अनुवाद कीजिए, प्रकाशन हो जाएगा' सहज में कहने वाले श्रीमंत बिट्ठलदास जी मूँधड़ा से मैं नितांत अपरिचित तो नहीं था। ये महानुभाव कोलकाता की भारतीय संस्कृति संसद, जिसके मंच पर मुझे कई बार जाने के अवसर मिले, ये उसके आजकल अध्यक्ष हैं, यह भी जानता था। जो संस्था अपनी स्वर्ण-जयन्ती मना चुकी, उसके इनसे पूर्व इनके पिताश्री श्रेष्ठिवर श्रीमंत माधोदास जी मूँधड़ा सहित कितने ही महानुभाव अध्यक्ष रूप में उसकी ध्वजा थाम चुके हैं और भुजा के पश्चात् भुजा उस ध्वजा को थामती चली आ रही है। इस बार इनकी भुजा की बारी आई किंतु इनमें विशिष्टता क्या है। इतने सहज में 'प्रकाशन हो जाएगा' कह कैसे दिया? क्षमा करें, मैं कई कृपालुओं की कृपा-कृपणता के दर्शन इन चर्मचक्षुओं से कर चुका हूँ। मर्म बिद्ध होकर बैठा हूँ।

अस्तु, जैसे-तैसे रात कटी। प्रातःकाल से ही कई महानुभावों से कोलकाता में सम्पर्क किया। एक ने बताया "बड़े उद्योगपति हैं। व्यवसायी हैं।" एक ने कहा, "अत्यन्त धर्मनिष्ठ हैं। इनके पिताश्री सेठ माधेदास जी मूँधड़ा भारतीय संस्कृति संसद के संस्थापक सदस्यों में थे। उन्होंने कई पुस्तकें भी लिखीं। शायद इन्होंने भी कुछ लिखा है।" एक सज्जन ने कहा, "माहेश्वरी हैं। मूलतः बीकानेर के हैं। कोलकाता में अच्छा प्रभाव है।" सुना, किंतु इन टुकड़ों से पेट नहीं भरा। इनसे सीधे-सीधे जानने में संकोच लगा। अतः एक दिन इन्हीं के भेजे हुए श्रीमान् शंकरलाल जी सोमानी प्रसंगवश निवास पर पधारे। परिचय के संकट का समापन हो गया। जान गया कि कई पीढ़ियों से श्रीबल्लभ संप्रदाय से सम्बन्धित पुष्टिमार्गीय श्रीवैष्णव हैं। इनके सारस्वत कार्यों से प्रभावित होकर भारतवर्ष की धर्मधानी वाराणसी के उद्भट विद्वानों ने इन्हें 'विद्यासागर' की मानद उपाधि से अलंकृत किया है। तो दूसरी ओर, वास्तुकला में निष्णात होने के कारण, बड़े-बड़े निर्माणों के निर्माता होने के कारण 'विश्वकर्मा' सम्मान से भी विभूषित हैं। अनेक प्राचीन-अर्वाचीन ग्रंथों के प्रकाशक हैं। फिर तो भारतीय संस्कृति पर विश्वज्ञान कोश के रूप में (Indian Culture Eneylopaedic Survey) आठ खंड अंग्रेजी में प्रकाशित, प्रसाद जी की कामायनी और आँसू तथा सूरदास जी के पदों के अंग्रेजी अनुवाद, मेरे तो गिरिधर गोपाल (मीराबाई के पद) आदि कृतियों ने समय-समय पर आ-आकर इनके व्यक्तित्व और कृतित्व से भलीभाँति परिचित करा दिया। कारागृह में जन्मे को नंद का आंगन मिलने जैसे आनंद की

अनुभूति हुई।

फिर तो इनके सान्निध्य के अवसर पर अवसर मिले। साहित्य-संस्कृति के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से दूरगामी योजनाओं पर चर्चा हुई। कौन-कौन कब-कब कैसे-कैसे फलीभूत होंगी, यह तो श्रीहरि जाने। स्वयं विद्वान् होकर भी निरभिमान, आज के अधिकांश श्रीमंतों के प्रकृतिगत दोषों से अनभिज्ञ, उदारता की जीवंत प्रतिमा जैसे श्रेष्ठिवर श्रीयुत् बिट्ठलदास जी मूँधड़ा के सहज भाव से कहे गए 'अनुवाद कीजिए, प्रकाशन हो जाएगा' शब्दों का युक्तियुक्त अर्थ समझ में आ गया।

कृपाकारी की कृपणता के कोश की कुंजी मिल गई। अनुवाद करने बैठ गया। 'अधूरा है, अभी अधूरा है' बार-बार के सुने हुए शब्द, सूत्र बनकर मचल पड़े। लगभग पचास छंदों की माँ ने नवीन रचना करा दी। टंकित प्रति जांचने बैठा तो कई छंद और निकल आए। फिर भी 'अधूरा है' कहने वाले वाज नहीं आ रहे हैं। स्वयं 'नेति' हैं न, सभी को अपनी जात का मानते हैं। कहना ही पड़े तो इतना ही कहा जा सकता है कि कोई आगामी संस्करण यदि इन 'नेतिलला' की कृपा से जीवन काल में निकला तो यह 'अधूरा' कितना पूरा होगा, यह वे ही जाने, उनका काम जाने। 'कवि उर अजिर नचावहिं बानी' वाला उनका नाम जाने। मैं व्यर्थ में दाल-भात में मूसलचंद बनकर राहू की मुँह-फाड़ और केतु के बिना नाड़ के कबाड को नापने का धंधा क्यों पालूँ?

'निज कवित्त केहिं लाग न नीका' अपनी रचना किसे सुंदर प्रतीत नहीं होती। नीग्रो को भी अपना मोटे-मोटे होंठों वाला, स्थूलकाय, सघन श्यामवर्णी बालक साक्षात् कामदेव प्रतीत होता है। किंतु—

'जो कवित्त बुध नहीं आदरहिं। सो श्रम बादि बालकवि करहिं।।' जिस रचना का श्रेष्ठ जन आदर नहीं करते, वह तो व्यर्थ श्रम की कोटि में ही गिना जाता है। इस विषय में तो मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि—

'भनति मोरि सब गुन रहित, विश्व विदित गुण एक' 'मेरी' कहलाने वाली, यह रचना समस्त गुणों से रहित है किंतु इसमें विश्वविदित गुण एक ही है, वह है, "एहिं महुँ रघुपति नाम उदारा" इसमें श्रीहरि का नाम है। अतः श्रीहरि का कृपाप्रसाद मान कर इसे ग्रहण करें। यही विनम्र निवेदन है।

रामरंग

## आत्म निवेदन :-

### प्रथम संस्करण

'ध्रुव' का नाम जिहा पर आते ही क्या अपितु इस शब्द की स्मृति—मात्र से ही यों तो किस भारतीय नर—नारी के नयनों में वह अलौकिक दृश्य नहीं तैरने लगता कि यमुना किनारे एक टीले पर एक पांच वर्ष का बालक एक चरण पर नयन मूँदे करबद्ध खड़ा है और उसके सम्मुख खड़े हैं अपने कमल—नयनों में वात्सल्यमयी अलौकिक मनुहार भरे, उसे एकटक निहारते हुए स्वयं परात्पर परब्रह्म जगन्नियंता वे कमलनयन नारायण जो जन्म—जन्मांतरों तक अत्यन्त कठोर तपस्या करने वाले योगियों के ध्यान में भी क्षण भर को नहीं आते। किंतु फिर भी उस अबोध बालक साधक की साधना में जो सिद्ध—भक्ति का एक विशिष्ट—बोध है वह सामान्यतः प्रथम दृष्टि में सहजभाव से बोधगम्य नहीं होता। 'विमाता के वचनों से आहत होकर ध्रुव वन में तपस्या द्वारा भगवान् से वर प्राप्त कर आकाश में आज भी ध्रुव तारे के रूप में दिखता है' यह कथा तो लोक प्रसिद्ध है परन्तु उसके अंतर में भक्ति का वह अंतर्द्वन्द, भक्तियों का वह पारस्परिक द्वन्द छिपा हुआ है जो एक विशुद्ध भक्ति के स्वरूप का प्रतिपादक है। एक भक्त के लिये आदर्श मार्गदर्शक है।

सुदूर पश्चिमी—सागर के अंध—महाद्वीप (अफ्रीका) से पूर्वी सागर में छिटके मलय—जव—सुमात्रादि द्वीपमाला पर्यन्त, गिरिराज हिमालय की हिमाच्छादित—हरित—पल्लवित—पुष्पित अभित देव—दुर्लभ वनस्पति परिपूरित उपत्यकाओं से लेकर सिंधु—त्रिवेणी की त्रयरंगिणी लहरमाला से प्रक्षालित भगवती कन्याकुमारी की पादांगुलीया विभूषित पदावली तक विस्तृत यह भारतभूमि यों तो विभिन्न कालों में अनेकानेक परिस्थितियों के कारण हमारी ही मूर्खता और अधिकांशतः हमारों की ही क्षुद्र स्वार्थोत्पन्न आत्मघाती धूर्तता—क्रूरता—कायरता के कारण कट—कट कर बँट—बँट कर जितनी रह गई है, वह तो मानचित्रों में है। परन्तु अभी जो कटने—बँटने को बैठी है वह काटने—बॉटने वालों के ध्यान में जितनी है उतनी में इतनी—कितनी भी उसके शासक कहलाने वालों के ध्यान में भी यद्यपि नहीं है। तो भी उसकी एक संस्कृति है। क्योंकि उसके सनातन परिपक्व संस्कारों से संस्कारित संस्कृत भाषा गुप्त होते—होते हुए भी अब तक लुप्त नहीं हुई है। उसी संस्कृत भाषा की प्रदीपिका को प्रदीप्त करने के लिए अनेकानेक धातु कच्ची—धातु रूपी कपास के रूप में जिन शब्द—रूपी वर्तिकाओं का निर्माण कर अपनी प्रदीप्ति से भारतीय—भाषा जगत के दिग्दिगन्त को प्रकाशित कर रही हैं उन्हीं में एक 'भज्' धातु 'भक्ति' शब्द की जननी है। जननी के गर्भ से जन्म लेने वाला बालक जिस प्रकार अपनी जननी का स्तन पान कर कालक्रम से अन्य पदार्थों—तत्वों को ग्रहण करता हुआ अपनी जननी को आकार—प्रकार आचार—विचार आदि में पीछे छोड़ता हुआ कभी—कभी इतना आगे निकल जाता है कि सामान्यतः

विश्वास करना कठिन हो जाता है कि यह इसी जननी का जातक है। उसी प्रकार 'भक्ति' शब्द के विराट स्वरूप-विस्तृत व्याख्या के समक्ष 'भज्' वामन ही ठहरती है। किन्तु भक्ति का त्रिविक्रम स्वरूप इसी वामनावतार 'भज्' धातु की सुदर्शनीय छवि ही है। संक्षेप में कहा जाए तो भक्ति ही वह सुदृढ़ धरातल है जिस पर धर्म-अर्थ-काम-मोक्षाधारित भारतीय संस्कृति का सिंहासन निश्चल रूप से टिका हुआ है। भारतीय इतिहास में ध्रुव-चरित्र का आधार यही निश्चल भक्ति है। जिसके शौर्य-धैर्य ने आयु-वर्ण-ज्ञान-साधन-परिस्थिति आदि सभी को एक साथ परास्त कर भक्ति की पाषाण प्रतिमा को मात्र मंत्रों से नहीं अपितु परकाय-प्रवेश विधि से प्रामाणिकता पूर्वक प्राणमयी बना डाला। उसके फहराते हुए दुकूल के प्रतिकूल आंचलों को स्वानुकूल बनाकर अनंत-अगम्य भवसागर का मात्र एक कूल नहीं अपितु ऐसा सुरक्षित-सुरम्य सुकूल बना डाला कि जहां बाल्मीकि-वेदव्यास-कंबन-एकनाथ-त्यागराज-माधव-शंकर-विद्यापति-जयदेव-बलरामदास-सिक्ख गुरुजन-लल्ल-मौल्ल-तुलसी-सूर-मीरा आदि के पोतों ने आश्रय लिया, वहीं कितनी ही तरणियों-डोंगियों को आश्रय मिला। भक्ति के आचार्य माने जाने वाले शिव-ब्रह्मा-सनकादिक के महापोत भी जहां से टिठके बिना आगे नहीं बढ़ पाते। ध्रुव चरित्र में भक्ति अपने अंतर्द्वन्द से अपने ही स्वरूपों के द्वन्द से जिस प्रकार टकराती है, उभरती है, वह तो अद्भुत है। भक्ति का स्थायी भाव आसक्ति है। भेदोपभेद से वह सात्त्विक-राजसी-तामसी चाहे कुछ भी कही जाए परन्तु उसके मूल में आसक्ति अवश्य रहेगी। नारद भक्ति सूत्र में तो इन आसक्तियों की विधिवत् तालिका ही दी हुई है, यथा-

'गुणमाहात्म्यासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-कांतासक्ति-वात्सल्यासक्ति-आत्मनिवेदनासक्ति-तन्मयासक्ति, परमविरहासक्ति' कहना न होगा कि ध्रुव की भक्ति में इन सभी आसक्तियों का यत्र-तत्र दर्शन होता है। इन समस्त आसक्तियों के सम्मिश्रण से जो जिस माधुर्य की सृष्टि होती है, वह तो 'मूकास्वादनवत्' गूँगे के स्वाद के समान है। भक्तिमती मीरा के शब्दों में 'हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेर्यो दरद न जाने कोय' इसी को तो मुखरित कर रहा है। प्रत्यक्ष रूप से हम देखते हैं कि जिस पदार्थ को जितना घिसा जाता है, उतना निखार आता है। इसी प्रकार जो जितने दुःख-कष्ट-विरह-वेदना-विपदा-विघ्नों को हँसकर झेल लेता है उसका मनोबल इन दूषणों को कालान्तर में अवश्यमेव विभूषण बना डालता है।

विमाता के विष से बुझे हुए तीखे बाणों जैसे शब्द सीधे मन पर चोट कर गये क्योंकि ढाल के रूप में पिता के जिन शब्दों की उस समय अपेक्षा थी, वह नहीं मिले। माता की गोद में सांत्वना कहां से मिलती, वह तो स्वयं ही भर्त्सना की पात्र बनी बैठी थी। उस निराश देवी ने छाती पर शिला रखकर तपस्या के लिये वन का मार्ग दिखा दिया। साधक के सत्संकल्प ने सिद्धि-प्रासाद के महापौर की मानो अर्गला ही सरका दी। जब मार्ग में ही 'लभ्येतेऽपि तत्कृपयैव'

के अनुसार देवर्षि नारद के रूप में भगवान् की करुणावतार कृपामूर्ति से साक्षात्कार हुआ। माता ने जो गुणमाहात्म्यासक्ति प्रभु के गुणों का वर्णन कर उत्पन्न की थी, उसी ने ध्रुव में क्रम भंग कर आत्मनिवेदनासक्ति की जड़ जमा दी। भगवान् के स्वभाव में तो अद्भुत कृतज्ञता है। उन्हें तो कोई केवल पलकें झुकाकर ही प्रणाम कर ले तो वे स्वयं उसके ऋणी बन जाते हैं। अतः उन्हीं के हृदय में जो भगवान् और भक्त का भेद समाप्त करने वाली वात्सल्यासक्ति ध्रुव के प्रति हुई, उसी का परिणाम देवर्षि-दर्शन मानना चाहिये।

भक्त और भगवान् का सम्बन्ध प्रारंभ में एक दीन-हीन एवं किसी विश्वसनीय साहूकार का जैसा होता है। वह दीन-हीन येनकेन प्रकारेण अपना पेट काट-काटकर अपनी सामान्य सी पूँजी उस साहूकार के पास जमा करा देता है। उस सामान्य सी पूँजी के जमा होते ही साहूकार को सहसा गणितातीत लाभ होने लगता है। ऐसी स्थिति में वह ब्याज पर ब्याज, मूलाधिक ब्याज देकर भी उस सामान्य पूँजी को लौटाने की बात सोचता नहीं। तो जिसे घर बैठे, बिना माँगे, उसके इच्छित से अधिक प्राप्त हो रहा हो, वह मांगेगा क्यों? दोनों को दोनों ही जब भाग्यशाली मानते हों, तब उनके सौभाग्य को कौन तुलाधार तोल सकता है?

भक्त और भगवान् के संबंध की यही स्थिति ध्रुव चरित्र में प्रत्यक्ष है। धीरे-धीरे समस्त आसक्तिएँ ध्रुव का आश्रय ग्रहण करते-करते, उस प्रभु-आश्रित बालक को प्रभु का एक आश्रम ही बना गई। ऐसा आश्रम कि जिसमें युगों-युगों से अनेकानेक भगवद्-आश्रयाकांक्षि आश्रय प्राप्त करते चले आ रहे हैं। बल्कि वास्तव में सत्य तो यह है कि इस भक्त ध्रुव रूपी आश्रम में आश्रितों के रूप में प्रवेश करने वाले कालांतर में अनेकों के अजर-अमर आश्रयदाता सिद्ध हुए हैं। महाप्रभु द्वय चैतन्य एवं आचार्य बल्लभ ध्रुव की इसी तपोभूमि ब्रज भूमि में आकर ही तो प्रतिष्ठित हुए। उनके पश्चात् तो उनके शिष्य-भक्तों की इतनी विशाल पंक्तिएँ हैं कि जिनकी गणना की ही नहीं जा सकती। अपने बालभक्त की तपोभूमि को अपनी बाल-लीला की क्रीड़ा भूमि के रूप में चयन कर, श्रीहरि ने ध्रुव को जो महत्ता प्रदान की उसकी तो चर्चा ही क्या?

भक्ति को किसी ने 'प्रेम पदार्थ' किसी ने 'रहस्याति रहस्य' किसी ने 'अतिसहज' किसी ने 'परमतत्त्व' आदि-आदि न जाने क्या-क्या माना और यह है भी सत्य किन्तु कोई सन्त-महात्मा इसका वर्णन करें तो ही शोभा है। मुझ जैसे एक सामान्य जन के द्वारा तो यह 'अनधिकार' क्षेत्र के अंतर्गत ही मैं मानता हूँ। मुझे तो सुदामा-चरित्र के रचयिता भक्त सुकवि पूज्यपाद श्री नरोत्तम दास जी की कृपा से इस कल्पवृक्ष के मधुर-फल के रस की जो दो बूँदें मिलीं उन्हीं ने मस्ताना कर दिया। वह मस्ती लिखाती गई, मैं तो मंत्र-कीलित मूढ़ सा उस श्रुतलेख को केवल लिपिबद्ध करने वाला लिपिक ही हूँ।

हुआ यों कि एक दिन अचानक वर्षों पूर्व सुदामा-चरित हाथ में आ गया। पढ़ने का अवसर पहले भी मिला था किन्तु कभी भी भूमिका नहीं पढ़ी थी। इस बार वह पढ़ी तो विदित

हुआ कि श्री नरोत्तम दास जी ध्रुव-चरित्र भी लिख रहे थे परन्तु उसकी प्रति मिलती नहीं। न जाने उनका पांचभौतिक शरीर रचना के पूर्व पंच-तत्त्वों में विलीन हो गया कि पांडुलिपि कहीं दबी पड़ी हैं अथवा विधर्मियों के द्वेषानल की भेंट हो गई? क्योंकि तक्षशिला-नालंदा-मथुरा-काशी-काश्मीर-देवगिरि-उज्जैन-कांची-कामाक्षी आदि जो-जो हमारे शिक्षा-क्षेत्र थे, धार्मिक-क्षेत्र थे वहां तो विधर्मी-आक्रान्ताओं ने जो नग्न-नृत्य किये वे यद्यपि आज दबाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं किन्तु उनके चिन्ह तो दबाकर भी नहीं दब पा रहे हैं। देव-मूर्तियों के साथ-साथ जिनका विध्वंस करना उनका लक्ष्य रहा वे हमारे पुस्तकालय ही रहे। किसी भी देश की सांस्कृतिक धरोहर के कोषागार उसके पुस्तकालय ही तो होते हैं। यदि किसी देश को, समाज को, सदैव-सदैव के लिये पराभूत करना हो तो उसकी संस्कृति नष्ट कर देना पर्याप्त है।

सिकंदर से लेकर गजनिवी-गौरी-तैमूर-चंगेज आदि सभी लुटेरे बन कर आते रहे जाते रहे, परन्तु फिर उनके विपन्न देश छिन जाने और यहां की सुजला-सुफला-शस्यश्यामला-मलयजशीतला भूमि ने उन विधर्मी-विदेशियों को यहीं बस जाने के स्वप्न देने आरंभ कर दिये। इन स्वप्नों को साकार करने का कार्य किया हमारी पारस्परिक फूट ने। भीषण नरसंहार ने बसने के लिए धरती खाली कराई। लूटपाट ने रीते कोष भरे। अत्याचारों ने मनोबल तोड़े तो संस्कृति को निर्वश करने के लिये मंदिरों-मठों-गुरुकुलों और पुस्तकालयों का विध्वंस आवश्यक था। जो शताब्दियों तक निरंतर चला किन्तु यूनान-मिश्र-रोम और अरब आदि की संस्कृति को निगलने वाले अघासुर भारत की श्रुति-परंपराधारित संस्कृति को निगल-निगल कर भी दबा नहीं पाये। हम उन्हें समय-समय पर रक्त-वगन करा-करा कर स्वयं भी रक्तस्नात होकर भी आरक्त रहे। उसी के प्रभाव से आज जैसे-कैसे भी हैं परन्तु हैं जीवित।

अस्तु, इतिहास का विद्यार्थी हूँ न, सो प्रस्तुत विषयानुसार तो विषयांतर किन्हीं-किन्हीं को लगेगा परन्तु ध्रुव-चरित्र के न मिलने की पीड़ा ही मुझसे यह सब कहला गई। उत्तर साकेत-ध्रुव चरित्र और नवरंग-मान-मर्दन आदि मेरे हृदय के विषय हैं और इतिहास मेरे मन का-मस्तिष्क का विषय है। सो वह छूट नहीं पाया। अतः 'आरत काह न करहिं कुकरमू' मान कर मनीषी-गण कृपया मुझे क्षमा करें। फिर भी इन्द्रप्रस्थ के इतिहास के ब्याज से संभवतः शीघ्र ही इस विषय पर विस्तार से चर्चा होगी, प्रभु कृपा से विश्वास है।

बात बीच में अधूरी रह गई सो ध्रुव-चरित्र के कुछ दस-बारह-पंद्रह छंद जो मैंने सुदामा चरित्र में पढ़े, उनकी चर्चा ब्रह्मलीन डा. दशरथ जी ओझा से हुई। वे तो परम विद्वान् और अनेकों पुस्तकों के रचयिता होने के साथ-साथ हृदय के अत्यन्त सुकामल-परमवैष्णव थे ही। उन्होंने तुरंत हँसकर आचार्य प्रवर डा. हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के उन्हीं वचनों को दोहरा दिया जो उन्होंने उत्तर-साकेत के कुछ अंश सुनकर कहे थे कि 'श्रीराम का उत्तर चरित्र गो. तुलसीदास



तुम्हारे लिये ही छोड़ गये थे' तो श्रद्धेय ओझा जी ने भी यही कहा कि "भैया रामरंग! ध्रुव-चरित्र अधूरा, नरोत्तम पूरा करने के लिये तुम्हारे लिये ही छोड़ गये हैं। इसे पूरा करो।" मैंने कहा कि "उनकी सी मधुर भाषा-ललित शैली मैं कहां से लाऊँ?" तुरंत प्रश्नात्मक उत्तर मिला 'ये और भाषा-शैलिँँ तुम कहां से लाये?' मैं क्या कहता, शिर झुकाकर यही कह सका कि 'यह तो मां की कृपा है।' उनके मुख से तुरंत वरदानात्मक शब्द निकले "निश्चय करो-संकल्प करो, मां बारंबार कृपा करेगी। उस कृपामयी पर विश्वास करो।" सो यह जैसा-कैसा ध्रुव-चरित्र तो आपके सम्मुख है किन्तु जिनके आशीर्वाद से यह संभव हुआ, उन श्रद्धेय का श्रीमुख आज आँखों में ही बसा रह गया है। उनके चरण तो मुझे मानो अस्पृश्य मान कर नित्यगोलोक चले गये, यही दुःख है।

अस्तु, भक्तवर नरोत्तम दास जी की अँगुली थाम कर उनका यह बालक कहां तक उनके मार्ग पर चल पाया है, यह निर्णय तो आप पाठक वृंद ही करेंगे। मैं तो केवल उन्हें प्रणाम ही कर सकता हूँ। उन्हीं के भंडार के चार चावलों में मां की दी हुई दाल मिलाकर जो खिचड़ी बनी, वह मैं तो परोस चुका। स्वाद का विषय तो भोक्ता का होता है।

यह आत्मनिवेदन यदि साहित्य जगदाकाश के वस्तुतः दिशा-दर्शक ध्रुव-स्वरूप परम श्रद्धेय आचार्यवर डा. नगेन्द्र जी के श्रीचरणों में अभिवंदन निवेदन किये बिना विराम लेता है तो वह सौभाग्य-नक्षत्रराज को ही विराम देने जैसा कुकृत्य होगा। उनकी अहेतुकी कृपा ने कितने कुलिश-कपाटों को पारदर्शी-पटों के समान सरका दिया, यह संभवतः वे भी नहीं जानते किन्तु मेरी आत्मा और परमात्मा तो जानते हैं। अतः जिनके अक्षय आशीर्वाद के अभेद्य कवच से आवृत होकर 'गृह कारज नाना जंजाला' के चक्रव्यूह में अक्षत रहते हुए मां को यह दो पुष्प समर्पित करने का सुअवसर प्राप्त कर सका हूँ, उन परम् तत्त्वविद-मनीषीप्रवर डा. नगेन्द्र जी की अभिवंदना करते हुए अपने इस सामयिक आत्मनिवेदन को विराम देने से पूर्व यदि मैं मान. डा. रामशरण जी गौड़ के प्रति कृतज्ञता प्रकट नहीं करता तो यह एक प्रायश्चित्त-विहीन पातक ही होगा। आज जिन महान् (तथाकथित) बुद्धिजीवियों ने साहित्य को संजीवनी प्रदान करने वाली ब्रजभाषा को 'मृत' 'कालातीत' की संज्ञा प्रदान करने में निस्संकोच उदारता बरती है वहीं साहित्य के इन सरस मर्मज्ञ ने इस कृति को प्रकाशन-योग्य मानकर ब्रजभाषा की महिमा-गरिमा को जिस सात्त्विकता से समादर-स्नेह प्रदान किया है, वह वस्तुतः इन्हीं के योग्य है। हिन्दी अकादमी दिल्ली के सचिव रूप में डा. गौड़ जी निस्संदेह मां भारती के प्रत्यक्ष वरदान की प्रखर प्रतिमूर्ति ही हैं।

श्री गुरु पूर्णिमा, २०५२ वि.  
१२ जुलाई १९९५ ई.

विनीत :  
रामरंग